जैन आगम-साहित्य : एक दृष्टिपात

●आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

आगम-साहित्य विश्ववाङ्मय की अनमोल निधि है। इसमें जीवन के आध्यात्मिक उन्नयन का पथप्रदर्शन तो मिलता ही है, साथ ही संस्कृति, इतिहास, दर्शन, खगोल, गणितकला आदि विविध विषयों की भी चर्चा आगमों में हुई है। आगमों के संबंध में अनेकविध जिज्ञासाएँ हो सकती हैं, उनमे से कतिपय का समाधान प्रस्तुत लेख में हुआ है। आगमों के महत्त्व, वर्गीकरण, निर्यूहण आगम, भाषा, आगम-विच्छेद, लेखन आदि के संबंध में यह लेख सारगर्भित जानकारी से परिपूर्ण है। प्रस्तुत लेख आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी की लघुकृति (ट्रेक्ट) ''जैनागम साहित्य : एक परिशीलन' से संकलित किया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी को आगम विषयक एक प्रसिद्ध कृति है– ''जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा। विस्तृत अध्ययन के लिए पाठक उस पुस्तक का अवलोकन कर सकते हैं। —**सम्पादक**

आगम साहित्य का महत्त्व

जैन आगम-साहित्य भारतीय-साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान विज्ञान का अक्षय भण्डार है। अक्षर-देह से वह जितना विशाल और विराट् है उससे भी कहीं अधिक उसका सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन विशद व महान् है। जैनागमों का परिशीलन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि यहां केवल कमनीय कल्पना के गगन में विहरण नहीं किया गया है, न बुद्धि के साथ खिलवाड़ ही किया गया है और न अन्य मत- मतान्तरों का निराकरण ही किया गया है। जैनागम जीवन के क्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरते हैं। उन्होंने जीवन का सजीव, यथार्थ व उजागर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है, आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उसकी सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। उसके साधन रूप में त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाने का संदेश दिया है। संयम-साधना, आत्म-आराधना और मनोनिग्रह का उपदेश दिया है।

जैन आगमों के पुरस्कर्ता केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु महान् व सफल साधक रहे हैं। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना की, कठोर तप की आराधना की और अन्तर में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर आत्मा में अनन्त पारमात्मिक ऐश्वर्य के दर्शन किये। उसके पश्चात् उन्होंने सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किए। आत्म-साधना का नवनीत जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। यही कारण है कि जैनागमों में जिस प्रकार आत्म-साधना का वैज्ञानिक और क्रमबद्ध वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा किसी भी प्राचीन पौर्वात्य और पाश्चात्त्य विचारक के साहित्य में नहीं मिलता। वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन नगण्य है और लोक चिन्तन अधिक। उसमें जितना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवस्तुति का स्वर मुखरित है, उतना आत्म-साधना का नहीं। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं, किन्तु उनका ब्रह्मवाद और आध्यात्मिक विचारणा इतनी अधिक दार्शनिक है कि उसे सर्व साधारण के लिए समझना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। जैनागमों की तरह आत्म-साधना का अनुभूत मार्ग उनमें नहीं है। डॉक्टर हर्मन जेकोबी, डॉक्टर शुब्रिंग प्रभृति पाश्चात्त्य विचारक भी यह सत्य तथ्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि जैनागमों में दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्त्तव्य का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा अन्य साहित्य में दुर्लभ है।

आगम के पर्यायवाची शब्द

मूल वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद', बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रों को 'श्रुत', 'सूत्र' या 'आगम' कहा जाता है। आजकल 'आगम' शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु अतीत काल में 'श्रुत केवली', 'श्रुत स्थविर' शब्दों का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है, कहीं पर भी आगम-केवली या आगम-स्थविर का प्रयोग नहीं हुआ है।

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम, आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन और श्रुत ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

आगम की परिभाषा

'आगम' शब्द— 'आ' उपसर्ग और 'गम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ 'समन्तात्' अर्थात् पूर्ण है और 'गम्' धातु का अर्थ गति प्राप्ति है।

'आगम' शब्द की अनेक परिभाषाएँ आचार्यों ने की हैं। 'जिससे वस्तु तत्त्व (पदार्थ रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है। जो तत्त्व आचार-परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है। आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्तवचन भी आगम माना जाता है। आप्त का कथन आगम है। जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार 'आगम' शब्द समग्र श्रुति का परिचायक है, पर जैन दृष्टि से वह विशेष ग्रन्थों के लिए व्यवहृत होता है।

जैन दृष्टि से आप्त कौन है? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है वे जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है, क्योंकि उनमें वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वापर विरोध तथा युक्तिबाध ही होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं– 'तप–नियम ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं।

तीर्थंकर केवल अर्थ रूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं। अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। एतदर्थ आगमों में यत्र तत्र 'तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते' (समवाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन आगमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा जाता है। यहाँ पर यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि जैनागमों की प्रामाणिकता केवल गणधरकृत होने से ही नहीं है, अपितु उसके अर्थ प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वार्थ साक्षात्कारित्व के कारण है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक बुद्ध निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं। गणधर केवल द्वादशांगी की ही रचना करते हैं। अंग बाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।

यह भी माना जाता है कि गणधर सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान के समक्ष यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हैं कि भगवन! तत्त्व क्या है? 'भगवं किं तत्तं?' उत्तर में भगवान उन्हें 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' यह त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी के फल स्वरूप वे जिन आगमों का निर्माण करते हैं वे आगम अंगप्रविष्ट कहलाते है और शेष रचनाएँ अंगबाह्य। द्वादशांगी अवश्य ही गणधर कृत है, क्योंकि वह त्रिपदी से उद्भूत होती है, किन्तु गणधर कृत समस्त रचनाएं अंग में नहीं आती। त्रिपदी के बिना जो मुक्त व्याकरण से रचनाएं होती हैं वे चाहे गणधरकृत हों या स्थविरकृत, अंगबाह्य कहलाती हैं।

स्थविर दो प्रकार के होते हैं– १. सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी और २. दशपूर्वी।

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी चतुर्दशपूर्वी होते हैं। वे सूत्र और अर्थ रूप से सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनागम के ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं या लिखते हैं उसका किंचित् मात्र भी विरोध मूल जिनागम से नहीं होता। एतदर्थ ही 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है कि जिस बात को तीर्थंकर ने कहा है उस बात को श्रुतकेवली भी कह सकता है। श्रुतकेवली भी केवली के सदृश ही होता है। उसमें और केवली में विशेष अन्तर नहीं होता। केवली समग्रतत्त्व को प्रत्यक्षरूपेण जानते हैं, श्रुतकेवली उसी समग्रतत्व को परोक्षरूपेण श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। एतदर्थ उनके वचन भी प्रामाणिक होने का एक कारण यह भी है कि दशपूर्वधर और उससे अधिक पूर्वधर साधक नियमतः सम्यग् दृष्टि होते हैं। 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' तथा 'णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' उनका मुख्य घोष होता है। वे सदा निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके ही चलते हैं। एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की संभावना नहीं होती, उनका कथन द्वादशांगी से अविरुद्ध होता है। अतः उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को भी आगम के समान प्रामाणिक माना गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं, परतः प्रामाण्य है। उनका परीक्षण-प्रस्तर द्वादशांगी है। अन्य स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का मापदण्ड भी यही है कि वे जिनेश्वर देवों की वाणी के अनुकूल हैं तो प्रामाणिक और प्रतिकूल हैं तो अप्रामाणिक।

पूर्व और अंग

जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण 'समवायांग' में मिलता है। वहां आगम साहित्य का 'पूर्व' और 'अंग' के रूप में विभाजन किया गया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे और अंग बारह।

पूर्व—'पूर्व' श्रुत व आगम-साहित्य की अनुपम मणिमंजूषा है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर 'पूर्व साहित्य' में विचार चर्चा न की गई हो। पूर्व श्रुत के अर्थ और रचनाकाल के संबंध में विज्ञों के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभयदेव आदि के अभिमतानुसार द्वादशांगी से प्रथम पूर्व साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम पूर्व रखा गया है। कुछ चिन्तकों का यह मन्तव्य है कि पूर्व भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत राशि है। श्रमण भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह 'पूर्व' कहा गया है। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि पूर्वो की रचना द्वादशांगी से पहले हुई।

वर्तमान में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं माने जाते हैं। दृष्टिवाद बारहवां अंग है। पूर्वगत उसी का एक विभाग है तथा चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं।

जब तक आचारांग आदि अंग साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था, तब तक भगवान महावीर की श्रुत राशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से ही पहचानी जाती थी। जब आचार प्रभृति ग्यारह अंगों का निर्माण हो गया तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थान दे दिया गया।

आगम-साहित्य में द्वादश अंगों को पढने वाले और चौदह पूर्व पढ़ने वाले दोनों प्रकार के साधकों का वर्णन मिलता है, किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। जो चतुर्दश पूर्वी होते थे वे द्वादशांगवित् भी होते थे।

अंग—जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही भारतीय परम्पराओं में 'अंग' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में उसका प्रयोग मुख्य आगम-ग्रन्थ गणिपिटक के अर्थ में हुआ है। 'दुवालसंगे गणिपिडगे' कहा गया है। बारह अंग हैं—

१. आचार २. सूत्रकृत ३. स्थान ४. समवाय ५. भगवती ६. ज्ञाताधर्म कथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृत्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक और १२. दृष्टिवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार प्रभृति आगम श्रुत पुरुष के अंगस्थानीय होने से भी अंग कहलाते हैं।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

आगमों का दूसरा वर्गीकरण देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय का है। उन्होंने आगमों को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भागों में विभक्त किया।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने तीन हेतु बतलाये हैं। अंगप्रविष्ट श्रुत वह है—

१. जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है।
२. जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित होता है।
३. जो शाश्वत सत्यों से संबंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।

एतदर्थ ही 'समवायांग' एवं 'नन्दीसूत्र' में स्पष्ट कहा है द्वादशांगभूत गणिपिटिक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं। वह था, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

अंगबाह्य श्रुत वह होता है जो स्थविर कृत होता है।

वक्ता के भेद की दृष्टि से भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दो भेद किये गये हैं। जिस आगम के मूल वक्ता तीर्थंकर हों और संकलन कर्ता गणधर हों वह अंग प्रविष्ट है। पूज्यपाद ने वक्ता के तीन प्रकार बतलाये हैं— १. तीर्थंकर २. श्रुत केवली ३. आरातीय। आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंग प्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंग बाह्य कहलाते हैं।

'समवायांग' और 'अनुयोगद्वार' में तो केवल द्वादशांगी का ही निरूपण है किन्तु 'नन्दी सूत्र' में अंग प्रविष्ट, अंग बाह्य का तो भेद किया ही गया है, साथ ही अंग बाह्य के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में आगम की सम्पूर्ण शाखाओं का परिचय दिया गया है।

अनुयोग

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण किया गया है। व्याख्या क्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप होते हैं-

१. अपृथक्त्वानुयोग
२. पृथक्त्वानुयोग

आर्यरक्षित से पहले अपृथक्त्वानुयोग का प्रचलन था। अपृथक्त्वानुयोग में हर एक सूत्र की व्याख्या चरणकरण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से होती थी। यह व्याख्या अत्यधिक क्लिष्ट और स्मृति सापेक्ष थी। आर्यरक्षित के चार मुख्य शिष्य थे— १. दुर्बलिका पुष्यमित्र २. फल्गु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षित ३. विन्ध्य और ४. गोष्ठामाहिल। उनके शिष्यों में विन्ध्य प्रबल मेधावी था। उसने आचार्य से अभ्यर्थना की कि सहपाठ से अत्यधिक विलम्ब होता है अत: ऐसा प्रबन्ध करें कि मुझे शीघ्र पाठ मिल जाए। आचार्य के आदेश से दुर्बलिका पुष्यमित्र ने उसे वाचना देने का कार्य अपने ऊपर लिया। अध्ययन-क्रम चलता रहा। समयाभाव के कारण दुर्बलिका पुष्यमित्र अपना स्वाध्याय व्यवस्थित रूप से नहीं कर सके। वे नौवें पूर्व को भूलने लगे, तो आचार्य ने सोचा कि प्रबल प्रतिभा सम्पन्न दुर्बलिका पुष्यमित्र की भी यह स्थिति है तो अल्प मेधावी मुनि किस प्रकार स्मरण रख सकेंगे?

पूर्वोक्त कारण से आचार्य आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। चार अनुयोगों की दृष्टि से उन्होंने आगमों का वर्गीकरण भी किया।

'सूत्रकृतांग चूर्णि' के अभिमतानुसार अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण करण, धर्म, गणित और द्रव्य आदि अनुयोग की दृष्टि से व सप्त नय की दृष्टि से की जाती थी, किन्तु पृथक्त्वानुयोग के समय चारों अनुयोगों की व्याख्याएँ अलग-अलग की जाने लगी।

यह वर्गीकरण करने पर भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में भिन्न वर्णन नहीं है। उत्तराध्ययन में धर्म कथाओं के अतिरिक्त दार्शनिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप से हैं। भगवती सूत्र तो सभी विषयों का महासागर है ही। आचारांग आदि में भी यही बात है। सारांश यह है कि कुछ आगमों को छोड़कर शेष आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है। एतदर्थ प्रस्तुत वर्गीकरण स्थूल वर्गीकरण ही रहा।

दिगम्बर साहित्य में इन चार अनुयोगों का वर्णन कुछ रूपान्तर से मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. प्रथमानुयोग २. करणानुयोग ३. चरणानुयोग ४. द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में महापुरुषों का जीवन चरित्र है। करणानुयोग में लोकालोकविभक्ति, काल, गणित आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में आचार का निरूपण है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि का विश्लेषण है।

दिगम्बर परम्परा आगमों को लुप्त मानती है अतएव प्रथमानुयोग में महापुराण और अन्य पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोक-सार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि का समावेश किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने चारों अनुयोगों का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखा है - 'यदि मन शंकाशील हो गया है तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिये, प्रमाद में पड़ गया है तो चरण करणानुयोग का, कषाय से अभिभूत है तो धर्म कथानुयोग का और जड़ता प्राप्त कर रहा है तो गणितानुयोग का।'

अनुयोगों की तुलना वैदिक-साधना के विभिन्न पक्षों के साथ की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय तो द्रव्यानुयोग का संबंध ज्ञानयोग से है, चरणकरणानुयोग का कर्मयोग से, धर्म कथानुयोग का भक्ति योग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की प्रणाली होने से राजयोग से मिलता है।

अंग, उपांग, मूल और छेद

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती चतुर्थ वर्गीकरण है—अंग, उपांग, मूल और छेद। नन्दी सूत्रकार ने मूल और छेद ये दो विभाग नहीं किये हैं और न वहां पर 'उपांग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। 'उपांग' शब्द भी 'नन्दी' के पश्चात् ही व्यवहृत हुआ है। 'नन्दी' में 'उपांग' के अर्थ में ही अंगबाह्य शब्द आया है।

आचार्य उमास्वाति ने, जिनका समय पं. सुखलालजी संघवी ने विक्रम की पहली शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है, 'तत्त्वार्थभाष्य' में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है। 'उपांग' से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगमों से ही है।

आचार्य श्रीचन्द्र ने, जिनका समय ई. ११११२ से पूर्व माना जाता है, उन्होंने 'सुखबोधा समाचारी' की रचना की। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' शब्द प्रयुक्त किया है।

आचार्य जिनप्रभ, जिन्होंने ई. १३०६ में 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ पूर्ण किया था, उन्होंने उसमें आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए 'इयाणिं उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है, उसका निर्देश किया है।

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उत्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपांग विभाग का उल्लेख हुआ है।

पण्डित बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि साहित्य में भी 'उपांग' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वप्रथम किसने किया, यह अन्वेषण का विषय है।

मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' आदि की निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्तियों में मूल सूत्र के संबंध में किंचित् मात्र भी चर्चा नहीं की गई है। इससे यह ध्वनित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूल सूत्र' इस प्रकार का विभाग नहीं हुआ था। यदि हुआ होता तो अवश्य ही उसका उल्लेख इन ग्रन्थों में होता।

'श्रावक विधि' के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है, अपने ग्रन्थ में पैंतालीस आगमों का निर्देश किया है और 'विचारसार–प्रकरण' के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी, जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है, पैंतालीस आगमों का तो निर्देश किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, पर मूलसूत्र के रूप में विभाग नहीं किया है।

विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित 'प्रभावक चरित्र' में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का विभाग मिलता है और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने भी 'समाचारी शतक' में उसका उल्लेख किया है। फलितार्थ यह है कि मूल सूत्र विभाग की स्थापना तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी।

'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' आदि आगमों को 'मूलसूत्र' यह अभिधा क्यों दी गई, इसके संबंध में विभिन्न विज्ञों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं।

प्रो. विन्टरनित्ज का मन्तव्य है कि इन आगमों पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूल ग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह तर्क वजनदार नहीं है क्योंकि उन्होंने 'पिण्डनिर्युक्ति' को मूलसूत्र में माना है जबकि उसकी अनेक टीकाएँ नहीं हैं।

डॉ. सारपेन्टियर, डॉ. ग्यारीनो और प्रोफेसर पटवर्द्धन आदि का अभिमत है कि इन आगमों में भगवान महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है, एतदर्थ इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह कथन भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि भगवान महावीर के मूल शब्दों के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाता है तो सर्वप्रथम 'आचारांग' के प्रथम श्रुतस्कन्ध को मूल मानना चाहिये, क्योंकि वही भगवान महावीर के मूल शब्दों का सबसे प्राचीन संकलन है।

हमारे मन्तव्यानुसार जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार संबंधी मूल गुणों, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमण जीवनचर्या में मूलरूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।

हमारे इस कथन कि पुष्टि इस बात से भी होती है कि पूर्वकाल में आगमों का अध्ययन 'आचारांग' से प्रारम्भ होता था। जब 'दशवैकालिक' सूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम 'दशवैकालिक' का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् 'उत्तराध्ययन' पढ़ाया जाने लगा।

पहले 'आचारांग' के 'शस्त्र परिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी परन्तु 'दशवैकालिक' की रचना होने के पश्चात् उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।

मूलसूत्रों की संख्या के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। समयसुन्दर गणी ने १. दशवैकालिक २. ओघ निर्युक्ति ३. पिण्डनिर्युक्ति और ४. उत्तराध्ययन, ये चार मूलसूत्र माने हैं। भावप्रभसूरि ने १. उत्तराध्यन २. आवश्यक ३. पिण्डनिर्युक्ति— ओघनिर्युक्ति और ४. दशवैकालिक ये चार मूलसूत्र माने हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो. बेवर और प्रो. बूलर ने १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक एवं ३. दशवैकालिक को मूलसूत्र कहा है।

डॉ. सारपेन्टियर, डॉ. विन्टरनित्ज और डॉ.ग्यारीनो ने १. उत्तराध्ययन २. आवश्यक ३. दशवैकालिक एवं ४. पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र माना है।

डॉ. शुब्रिंग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्र की संज्ञा दी है।

स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं।

कहा जा चुका है कि 'मूल' सूत्र की तरह 'छेद' सूत्र का नामोल्लेख भी 'नन्दीसूत्र' में नहीं हुआ है। 'छेदसूत्र' का सबसे प्रथम प्रयोग 'आवश्यक निर्युक्ति' में हुआ है। उसके पश्चात् 'विशेषावश्यक भाष्य' और 'निशीथ भाष्य' आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम 'आवश्यक निर्युक्ति' को यदि ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि 'छेद सुत्त' शब्द का प्रयोग 'मूल सुत्त' से पहले हुआ है।

अमुक आगमों को 'छेद सूत्र' यह अभिधा क्यों दी गई? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ, यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को 'छेद सुत्त' कहा गया है, वे प्रायश्चित्त सूत्र हैं।

'स्थानांग' में श्रमणों के लिए पाँच चारित्रों का उल्लेख है– १. सामायिक २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहार विशुद्धि ४. सूक्ष्म संपराय और ५. यथाख्यात। इनमें से वर्तमान में अन्तिम तीन चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवन पर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का संबंध भी इसी चारित्र से है। संभवत: इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेद सूत्र की संज्ञा दी गई हो।

मलयगिरि की 'आवश्यक वृत्ति' में छेद सूत्रों के लिए पद–विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद विभाग और छेद ये दोनों शब्द समान अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। संभवत: इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो। क्योंकि छेद सूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से संबंध नहीं है। सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद दृष्टि से या विभाग दृष्टि से की जाती है।

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गए हैं, उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेद सूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी संभव है।

छेद सूत्रों को उत्तम श्रुत माना गया है। भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं। चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वयं यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेद सूत्र उत्तम क्यों हैं? फिर स्वयं ही उसका समाधान देते हैं कि छेद सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है। श्रमण जीवन की साधना का सर्वांगीण विवेचन छेद सूत्रों में ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है? उसका क्या कर्त्तव्य है? इत्यादि प्रश्नों पर उनमें चिन्तन किया गया है। जीवन में से असंयम के अंश को काटकर पृथक् करना, साधना में से दोषजन्य मलिनता को निकालकर साफ करना, भूलों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेदसूत्र का कार्य है।

'समाचारी शतक' में समयसुन्दर गणी ने छेद सूत्रों की संख्या छः बतलाई है—

१. दशाश्रुत स्कन्ध २. व्यवहार ३. बृहत्कल्प ४. निशीथ ५. महानिशीथ और ६. जीतकल्प

'जीतकल्प' को छोड़कर शेष पाँच सूत्रों के नाम 'नन्दी सूत्र' में भी कालिक सूत्रों के अन्तर्गत आये हैं। 'जीतकल्प' जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थ उसे आगम की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। 'महानिशीथ' का जो वर्तमान संस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि. ८वीं शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल संस्करण तो उसके पूर्व ही दीमकों ने उदरस्थ कर लिया था। अतः वर्तमान में उपलब्ध 'महानिशीथ' भी आगम की कोटि में नहीं आता। इस प्रकार मौलिक छेद सूत्र चार ही हैं— १. दशाश्रुतस्कन्ध २. व्यवहार ३. बृहत्कल्प और ४. निशीथ।

श्रुत पुरुष

'नन्दी सूत्र' की चूर्णि में श्रुत पुरुष की एक कमनीय कल्पना की गई है। पुरुष के शरीर में जिस प्रकार बारह अंग होते हैं— दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्ध (उदर और पीठ), दो भुजाएँ, गर्दन और सिर, उसी प्रकार श्रुत पुरुष के भी बारह अंग हैं।

दायां पैर— आचारांग
बायां पैर— सूत्रकृतांग
दायीं जंघा— स्थानांग
बायीं जंघा— समवायांग
दायां उरु— भगवती
बायां उरु— ज्ञाताधर्मकथा
उदर—उपासकदशा
पीठ—अन्तकृत्दशा
दायीं भुजा— अनुत्तरौपपातिक
बायीं भुजा— प्रश्नव्याकरण
गर्दन— विपाक
सिर— दृष्टिवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतपुरुष की कल्पना आगमों के वर्गीकरण की दृष्टि से एक अतीव सुन्दर कल्पना है। प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्तरचित अनेक कल्पना चित्र मिलते हैं। द्वादश उपांगों की रचना होने के पश्चात् श्रुत पुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की भी कल्पना की गई है, क्योंकि अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध कराने वाले उपांग सूत्र हैं।

किस अंग का उपांग कौन है, यह इस प्रकार है--

अंग	उपांग
आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानांग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्र प्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरौपपातिक दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुत पुरुष की तरह वैदिक वाङ्मय में भी वेद पुरुष की कल्पना की गई है। उसके अनुसार छन्द पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है।

निर्यूहण आगम

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं– १. कृत २. निर्यूहण। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम 'कृत' कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न भिन्न स्थविरों के द्वारा 'उपांग' साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब 'कृत' आगम हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये हैं–

१. आचारचूला
२. दशवैकालिक
३. निशीथ
४. दशाश्रुतस्कन्ध
५. बृहत्कल्प
६. व्यवहार
७. उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन

'आचारचूला' चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषण के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। 'आचारांग' से 'आचार चूला' की रचनाशैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना 'आचारांग' के बाद हुई है। आचारांग–निर्युक्तिकार ने उसको स्थविर कृत माना है। स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है और वृत्तिकार ने चतुर्दश पूर्व किया है, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें स्थविर का नाम नहीं आया है। विज्ञों का अभिमत है कि यहां पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

'आचारांग' के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'आचारचूला' का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पाँचों चूलाओं के निर्यूहण स्थलों का संकेत किया है।

'दशवैकालिक' चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वो से निर्यूहण किया गया है। जैसे— चतुर्थ अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्म- प्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्य-प्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।

द्वितीय अभिमतानुसार 'दशवैकालिक' गणिपिटक द्वादशांगी से उद्धृत है।

'निशीथ' का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उप विभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से 'निशीथ' का निर्यूहण किया गया है।

पंचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। इस मत का समर्थन आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनों आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूढ़ हैं।

'दशाश्रुतस्कन्ध' की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध 'दशाश्रुत स्कन्ध ' अंग प्रविष्ट आगमों में जो दशाएं प्राप्त हैं उनसे लघु है। इसका निर्यूहण शिष्यों के अनुग्रहार्थ स्थविरों ने किया था। चूर्णि के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।

'उत्तराध्ययन' का दूसरा अध्ययन भी अंगप्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत है।

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषतः कर्म-साहित्य का बहुत सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहण कृतियों के संबंध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्त्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे 'दशवैकालिक' के शय्यंभव, 'कल्प व्यवहार', 'निशीथ' और 'दशाश्रुत स्कन्ध' के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग साहित्य की संख्या के संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी एक मत हैं। सभी बारह अंगों को स्वीकार करते हैं। परन्तु अंगबाह्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों की संख्या के संबंध में यह बात नहीं है, उसमें विभिन्न मत हैं। यही कारण है कि आगमों की संख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं।

'नन्दीसूत्र' में आगमों की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ कुछ निर्युक्तियों को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

जैन आगमों की भाषा

जैन आगमों की मूल भाषा अर्द्धमागधी है, जिसे सामान्यतः प्राकृत भी कहा जाता है। 'समवायांग' और 'औपपातिक' सूत्र के अभिमतानुसार सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं, क्योंकि चारित्र धर्म की आराधना व साधना करने वाले मन्द बुद्धि स्त्री—पुरुषों पर अनुग्रह करके सर्वज्ञ भगवान सिद्धान्त की प्ररूपणा जन-सामान्य के लिए सुबोध प्राकृत में करते हैं। यह देववाणी है। देव इसी भाषा में बोलते हैं। इस भाषा में बोलने वाले को भाषार्य कहा गया है। जिनदासगणी महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं। प्रथम यह कि, यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाने के कारण अर्धमागधी कही जाती है, दूसरे इस भाषा में अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मागधी और देशज शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्धमागधी कहलाती है। भगवान महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग एवं जाति के थे।

बताया जा चुका है कि जैनागम ज्ञान का अक्षय कोष है। उसका विचार गाम्भीर्य महासागर से भी अधिक है। उसमें एक से एक दिव्य असंख्य मणि—मुक्ताएँ छिपी पड़ी हैं। उसमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नहीं हैं किन्तु धर्म, दर्शन, नीति, संस्कृति, सभ्यता, भूगोल, खगोल, गणित, आत्मा, कर्म, लेश्या, इतिहास, संगीत, आयुर्वेद, नाटक आदि जीवन के हर पहलू को छूने वाले विचार यत्र—तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हें पाने के लिए अधिक गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता है। केवल किनारे—किनारे घूमने से उस अमूल्य रत्नराशि के दर्शन नहीं हो सकते।

'आचारांग' और 'दशवैकालिक' में श्रमण जीवन से संबंधित आचार—विचार का गम्भीरता से चिन्तन किया गया है। 'सूत्रकृतांग', अनुयोगद्वार', 'प्रज्ञापना', 'स्थानांग', 'समवायांग' आदि में दार्शनिक विषयों का गहराई से विश्लेषण किया गया है। 'भगवती सूत्र' जीवन और जगत् का विश्लेषण करने वाला अपूर्व ग्रन्थ है। 'उपासकदशांग' में श्रावक साधना का सुन्दर निरूपण है। 'अन्तकृतदशांग और 'अनुत्तरौपपातिक' में उन महान् आत्माओं के तप—जप का वर्णन है, जिन्होंने कठोर साधना से अपने जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को तपाया था। 'प्रश्न व्याकरण' में आस्रव और संवर का सजीव चित्रण है। 'विपाक' में पुण्य-पाप के फल का वर्णन है। 'उत्तराध्ययन' में अध्यात्म चिन्तन का स्वर मुखरित है। 'राजप्रश्नीय' में तर्क के द्वारा आत्मा की संसिद्धि की गई है। इस प्रकार आगमों में सर्वत्र प्रेरणाप्रद, जीवनस्पर्शी, अध्यात्म रस से सुस्निग्ध सरस विचारों का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है।

आगम वाचनाएँ

श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् आगम संकलन हेतु पाँच वाचनाएँ हुई हैं। प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में पाटलिपुत्र में हुई। द्वितीय वाचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर हुई। तृतीय वाचना वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य मथुरा में हुई। चतुर्थ वाचना उसी समय वल्लभी सौराष्ट्र में हुई और पाँचवीं वाचना वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लभी में हुई। इसके पश्चात् आगमों की पुनः कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई।

आगम-विच्छेद का क्रम

श्वेताम्बर मान्यतानुसार वीर निर्वाण १७० वर्ष के पश्चात् भद्रबाहु स्वर्गस्थ हुए। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व उनके साथ ही नष्ट हो गये। दिगम्बर मान्यता के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ था।

वीर निर्वाण सं. २१६ में स्थूलभद्र स्वर्गस्थ हुए। वे शाब्दिक दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व के ज्ञाता थे। वे चार पूर्व भी उनके साथ ही नष्ट हो गये। आर्य वज्र स्वामी तक दस पूर्वों की परम्परा चली। वे वीर निर्वाण ५५१ (वि. सं. ८१) में स्वर्ग पधारे। उस समय दसवाँ पूर्व नष्ट हो गया। दुर्बलिका पुष्यमित्र ९ पूर्वों के ज्ञाता थे। उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण ६०४ (वि. सं. १३४) में हुआ। उनके साथ ही नवाँ पूर्व भी विच्छिन्न हो गया।

इस प्रकार पूर्वों का विच्छेद क्रम देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक चलता रहा। स्वयं देवर्धिगणी एक पूर्व से अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। आगम साहित्य का बहुत सा भाग लुप्त होने पर भी आगमों का कुछ मौलिक भाग आज भी सुरक्षित है। किन्तु दिगम्बर परम्परा की यह धारणा नहीं है। श्वेताम्बर समाज मानता है कि आगम संकलन के समय उसके मौलिक रूप में कुछ अन्तर अवश्य ही आया है। उत्तरवर्ती घटनाओं एवं विचारणाओं का उसमें समावेश किया गया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण 'स्थानांग' में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख है। वर्तमान में 'प्रश्नव्याकरण' का मौलिक विषय वर्णन भी उपलब्ध नहीं है तथापि 'अंग' साहित्य का अत्यधिक अंश मौलिक है। भाषा की दृष्टि से भी ये आगम प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं। 'आचारांग' के प्रथम श्रुत स्कन्ध की भाषा को भाषाशास्त्री पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की मानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न हो सकता है कि वैदिक वाङ्मय की तरह जैन आगम-साहित्य पूर्ण रूप से उपलब्ध क्यों नहीं है? वह विच्छिन्न क्यों हो गया? इसका मूल कारण है देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम-साहित्य व्यवस्थित रूप से लिखा नहीं गया। देवर्द्धिगणी के पूर्व जो आगम वाचनाएँ हुई, उनमें आगमों का लेखन हुआ हो, ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। वह श्रुति रूप में ही चलता रहा। प्रतिभा सम्पन्न योग्य शिष्य के अभाव में गुरु ने वह ज्ञान शिष्य को नहीं बताया जिसके कारण श्रुत साहित्य धीरे—धीरे विस्मृत होता गया।

आगम लेखन-युग

जैन दृष्टि से चौदह पूर्वों का लेखन कभी हुआ ही नहीं। उनके लेखन के लिए कितनी स्याही अपेक्षित है, इसकी कल्पना अवश्य ही की गई है। वीर निर्वाण संवत् ८२७ से ८४० में जो मथुरा और वल्लभी में सम्मेलन हुआ, उस समय एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्य रक्षित ने 'अनुयोग द्वार' सूत्र की रचना की। उसमें द्रव्य श्रुत के लिए 'पत्तय पोत्थय लिहिअं' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व आगम लिखने का प्रमाण प्राप्त नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण की ९वीं शताब्दी के अंत में आगमों के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय से मिलता है।

आगमों को लिपिबद्ध कर लेने पर भी एक मान्यता यह रही कि श्रमण अपने हाथ से पुस्तक लिख नहीं सकते और न अपने साथ रख ही सकते हैं, क्योंकि ऐसा करने में निम्न दोष लगने की संभावना रहती है—

१. अक्षर आदि लिखने से कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है एतदर्थ पुस्तक लिखना संयम विराधना का कारण है।
२. पुस्तकों को एक ग्राम से दूसरे ग्राम ले जाते समय कन्धे छिल जाते है, व्रण हो जाते है।
३. उनके छिद्रों की सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना नहीं हो सकती।
४. मार्ग में वजन बढ़ जाता है।
५. कुन्थु आदि त्रस जीवों का आश्रय होने से अधिकरण हैं या चोर आदि के चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।
६. तीर्थंकरों ने पुस्तक नामक उपाधि रखने की अनुमति नहीं दी है।
७. पुस्तकें पास में होने से स्वाध्याय में प्रमाद होता है। अतः साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं, उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का प्रायश्चित आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं।

यही कारण है कि लेखनकला का परिज्ञान होने पर भी आगमों का लेखन नहीं किया गया था। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान मिलता है, पर कहीं पर भी लिखने का विधान प्राप्त नहीं होता। ध्यान कोष्ठोपगत, स्वाध्याय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानरक्त पदों की तरह 'लेखरक्त' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु पूर्वाचार्यों ने आगमों का विच्छेद न हो जाय एतदर्थ लेखन का और पुस्तक रखने का विधान किया और आगम लिखे।

जैनागमों का आलेखन यदि इसी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ तो वैदिक ग्रन्थ भी गुप्त काल में ही लिपिबद्ध हुए थे। भारतीय संस्कृति के विभिन्न इतिहासज्ञों तथा शिशिर कुमार मित्र ने अपनी 'Vision of India' नामक पुस्तक में स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्राचीन ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य में और विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में लिखे गये हैं। रामायण, महाभारत, स्मृति आदि ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई।' इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य का लेखन काल गुप्त साम्राज्य तक खिंच आता है। सच्चाई यह है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी भारतीय वाङ्मय के लिपिकरण का महत्त्वपूर्ण समय रहा है।

उक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जैन आगम-साहित्य अपनी प्राचीनता, उपयोगिता और समृद्धता के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। 'अंग साहित्य' में भगवान महावीर की वाणी अपने बहुत कुछ अंशों में ज्यों की त्यों अभी भी प्राप्त होती है। इस वाणी को तोड़ा—मरोड़ा नहीं गया है। यह जैन परम्परा की विशेषता रही है कि अगों को लिपिबद्ध करने वाले श्रमणों ने मूल शब्दों में कुछ भी हेरा- फेरी नहीं की। 'अंग' एवं 'आगम' साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों और टीकाओं आदि की रचना हुई, किन्तु आगम का मूल रूप ज्यों का त्यों रहा। साथ ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की यह उदारता रही कि जहां उन्हें पाठान्तर मिले वहाँ दोनों विचारों को ही तटस्थता पूर्वक लिपिबद्ध किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org